

## इसलिए विदा करना चाहते हैं, हिन्दी को हिन्दी के कुछ अखबार

दुनिया की हर भाषा की ज़िंदगी में एक बार कोई निहायत ही निष्करुण वक्त दबे पाँव आता है और 'उसको बोलने वालों' के हलक में हाथ डालकर उनकी जुबान पर रचे-बसे शब्दों को दबोचता है और धीरे-धीरे उनके कोमल गर्भ में साँस ले रहे अर्थों का गला घोट देता है। एक तरफ वह 'पवित्र को ध्वंस' में धकेलता है तो दूसरी तरफ वह 'अतीत में आग' लगाता हुआ, चौतरफा भय और निराशा फैला देता है। ऐसे की वक्रत के खिलाफ अंततः मंगल पाण्डे की बंदूक से गोली निकलती है और 1857 का गदर (?) मच जाता है। ...आज हम फिर 1857 के ही निकट पहुँच गये हैं। वे तब ये कहते हुए आए थे : 'हम, तुम असभ्यों को सभ्य बनाने के लिए तुम्हारे देश में घुस रहे हैं।' मगर इस बार वे कह रहे हैं : 'हम, तुम कंगलों को सम्पन्न बनाने के लिए तुम्हारे यहाँ आ रहे हैं।' ...सुनो, हम जिस 'पूँजी का प्रवाह' शुरू कर रहे हैं, वह तुम्हारे यहाँ समृद्धि लायेगी। ...लेकिन, हकीकत में यह देश को समृद्ध नहीं बल्कि, एक किस्म के 'सांस्कृतिक-अनाथालय' में बदलने की युक्ति है। वे धीरे-धीरे आपसे आपकी बोलियाँ और भाषा छीन रहे हैं-तिस पर विडम्बना यह है कि उनके इस काम में हमारे कुछ अखबार भी तन-मन-धन से जुट गये हैं।

बहरहाल, प्रस्तुत है इसी मुद्दे को लेकर जिरह छेड़ते कुछ ज्वलंत सवाल :

भारत इन दिनों दुनिया के ऐसे समाजों की सूची के शीर्ष पर है, जिस पर बहुराष्ट्रीय निगमों की आसक्त और अपलक आँख निरन्तर लगी हुई है। यह उसी का परिणाम है कि चिकने और चमकीले पत्रों के साथ लगातार मोटे होते जा रहे हिन्दी के लगभग सभी दैनिक समाचार पत्रों के पृष्ठों पर, एकाएक भविष्यवादी चिन्तकों की एक नई नस्ल अँग्रेजी की मांद से निकलकर, बिला नागा, अपने साप्ताहिक स्तम्भों में आशावादी मुस्कान से भरे अपने छायाचित्रों के साथ आती है - और हिन्दी के मूढ़ पाठकों को गरेबान पकड़कर समझाती है कि तुम्हारे यहाँ हिन्दी में अतीतजीवी अंधों की बूढ़ी आबादी इतनी अधिक हो चुकी है कि उनकी बौद्धिक-अंत्येष्टि कर देने में ही तुम्हारी बिरादरी का मोक्ष है। दरअसल कारण यह कि वह बिरादरी अपने 'आसवाक्यों' में हर समय 'इतिहास' का जाप करती रहती है और इसी के कारण तुम आगे नहीं बढ़ पा रहे हो। इतिहास ठिठककर तुम्हें पीछे मुड़कर देखना सिखाता है, इसलिए वह गति-अवरोधक है। जबकि भविष्यातुर रहनेवाले लोगों के लिए गरदन मोड़कर पीछे देखना तक वर्ज्य है। एकदम निषिद्ध है। ऐसे में बार-बार इतिहास के पत्रों में रामशलाका की तरह आज के प्रश्नों के भविष्यवादी उत्तर बरामद कर सकना

असम्भव है। हमारी सुनो, और जान लो कि इतिहास एक रतौंध है, तुमको उससे बचना है। हिस्ट्री इज बंक। वह बकवास है। उसे भूल जाओ।

बहरहाल- 'अगर मगर मत कर'। 'इधर उधर मत तक'। 'बस सरपट चल'। भविष्यवाद का यह नया सार्थक और अग्रगामी पाठ है।

जबकि, इस वक्त की हकीकत यह है कि हमारे भविष्य में हमारा इतिहास एक घुसपैठिये की तरह हरदम मौजूद रहता है। उससे विलग, असंपृक्त और मुक्त होकर रहा ही नहीं जा सकता। इतिहास से मुक्त होने का अर्थ स्मृति-विहीन हो जाना है- सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से अनाथ हो जाना है।

लेकिन, वे हैं कि बार-बार बताये चले जा रहे हैं कि तुम्हारे पास तुम्हारा इतिहास-बोध तो कभी रहा ही नहीं है। और जो है, वह तो इतिहास का बोझ है। तुम लदे हुए हो। तुम अतीत के कुली हो और फटे-पुराने कपड़ों में लिपटे हुए अपना पेट भर पालने की जद्दोजहद में हो, जबकि ग्लोबलाइजेशन की फ्यूचर एक्सप्रेस प्लेटफार्म पर खड़ी है और सीटी बजा चुकी है। इसलिए, तुम इतिहास के बोझ को अविलम्ब फेंको और इस ट्रेन पर लगे हाथ चढ़ जाओ।

जी हाँ, अधीरता पैदा करने वाली नव उपनिवेशवाद की यही वह मोहक और मारक ललकार है, जो कहती है कि अब 'आगे' और 'पीछे' सोचने का समय नहीं है। अलबत्ता, हम तो कहते हैं कि अब तो 'सोचने' का काम तुम्हारा है ही नहीं। वह तो हमारा है। हम ही सोचेंगे तुम्हारे बारे में। अब हमें ही तो सब कुछ तय करना है तुम्हारे बारे में। याद रखो, हमारे पास वह छैनी है, जिस के सामने पत्थर को भी तय करना पड़ता कि वह क्या होना चाहता है - घोड़ा या कि साँड। उस छैनी से यदि हम तुम्हें घोड़ा बनायेंगे तो निश्चय ही रेस का घोड़ा बनायेंगे। यदि हमें साँड बनाना होगा तो तुम्हें वो साँड बनायेंगे, जो अर्थव्यवस्था को सींग पर उछालता हुआ सेंसेक्स के ग्राफ में सबसे ऊपर डुँकारता हुआ दिखाई पड़ेगा।

इन्हीं चिन्तकों की इसी नई नस्ल ने, हिन्दी के तमाम दैनिक अखबारों के पन्नों पर रोज-रोज लिख लिखकर सारे देश की आँख उस तरफ लगा दी है, जहाँ विकास दर का ग्राफ बना हुआ है और उसमें दर-दर की टोंकरे खाता आम आदमी देख रहा है कि येल्लो, उसने छः, सात, आठ और अब तो नौ के अंक को छू लिया है। इसी दर के लिए ही तमाम दरों-दीवारों को तोड़कर महाद्वार बनाया जा रहा है। इसे ही ओपन-डोर-पॉलिसी कहते हैं। और, कहने की जरूरत नहीं कि चिन्तकों की ये फौज, इसी ओपन-डोर से दाखिल हुई है। यही उसकी द्वारपाल है, जो घोषणा कर रही है कि तुम्हारे यहाँ मही (पृथ्वी) पाल आ रहे हैं। तुम्हारे यहाँ विश्वेश्वर आ रहे हैं। दौड़ो और उनका स्वागत करो। तुमने तो आपातकाल का भी स्वागत किया था, तो इसका 'स्वागत' करने में क्या हर्ज है? मजेदार बात यह कि इसके स्वागत में, इसकी अगवानी में, सबसे पहले शामिल है, हिन्दी के अखबार। वे बाजा फूँक रहे हैं और फूँकते-फूँकते बाजारवाद का बाजा बन गये हैं। ये अखबार पहले विचार देते थे। विचार की पूँजी देते थे, लेकिन अब पूँजी का विचार देने में जुट गये हैं। एक अल्प-उपभोगवादी भारतीय प्रवृत्ति को पूरी तरह उपभोक्तावादी बनाने की व्यग्रता से भरने में जी-जान से जुट गये हैं, ताकि भूमण्डलीकरण के कर्णधारों तथा अर्थव्यवस्था के महाबलीश्वरों के आगमन में आने वाली अड़चनें ही खत्म हो जायें और इन अड़चनों की फेहरिस्त में वे तमाम चीजें आती हैं, जिनसे राष्ट्रीयता की गंध आती हो।

कहना न होगा कि इसमें इतिहास संस्कृति और सभी भारतीय भाषाएँ शीर्ष पर हैं। फिर हिन्दी से तो 'राष्ट्रीयता' की सबसे तीखी गंध आती है। नतीजतन भूमण्डलीकरण की विश्व-विजय में सबसे पहले निशाने पर हिन्दी ही है। इसका एक कारण तो यह भी है कि यह हिन्दुस्तान में संवाद, संचार और व्यापार की

सबसे बड़ी भाषा बन चुकी है। दूसरे इसको राजभाषा या राष्ट्रभाषा का पर्याय बना डालने की संवैधानिक भूल गाँधी की उस पीढ़ी ने कर दी, जो यह सोचती थी कि कोई भी मुल्क अपनी राष्ट्रभाषा के अभाव में स्वाधीन बना नहीं रह सकता। चूँकि भाषा सम्प्रेषण का माध्यम भर नहीं, बल्कि चिन्तन प्रक्रिया एवं ज्ञान के विकास और विस्तार का भी हिस्सा होती है। उसके नष्ट होने का अर्थ एक समाज, एक संस्कृति और एक राष्ट्र का नष्ट हो जाना है। वह प्रकारान्तर से राष्ट्रीय एवं जातीय-अस्मिता का प्रतिरूप भी है। इस अर्थ में, भाषा उस देश और समाज की एक विराट ऐतिहासिक धरोहर भी है। अतः उसका संवर्द्धन और संरक्षण एक अनिवार्य दायित्व है।

जब देश में सबसे पहले मध्यप्रदेश के एक स्थानीय अखबार ने विज्ञापनों को हड़पने की होड़ में, बाकायदा सुनिश्चित व्यावसायिक रणनीति के तहत अपने अखबार के कर्मचारियों को हिन्दी में 40 प्रतिशत अँग्रेजी के शब्दों को मिलाकर ही किसी खबर के छापे जाने के आदेश दिये और इस प्रकार हिन्दी को समाचार पत्र में हिंग्लिश के रूप में चलाने की शुरुआत की तो मैंने अपने पर लगने वाले सम्भव आरोप मसलन प्रतिगामी, अतीतजीवी अंधे, राष्ट्रवादी और फासिस्ट आदि जैसे लांछनों से डरे बिना एक पत्र लिखा। जिसमें, मैंने हिन्दी को हिंग्लिश बना कर दैनिक अखबार में छापे जाने से खड़े होने वाले भावी खतरों की तरफ इशारा करते हुए लिखा- 'प्रिय भाई, हमने अपनी नई पीढ़ी को बार-बार बताया और पूरी तरह उसके गले भी उतारा कि अँग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति ने ही हमें ढाई सौ साल तक गुलाम बनाये रक्खा। दरअसल, ऐसा कहकर हमने एक धूर्त-चतुराई के साथ अपनी कौम के दोगलेपन को इस झूठ के पीछे छुपा लिया। जबकि, इतिहास की सच्चाई तो यही है कि गुलामी के विरुद्ध आजादी की लड़ाई लड़ने वाले नायकों को, अँग्रेजों ने नहीं, बल्कि हमीं ने मारा था। आजादी के लिए 'आग्रह' या सत्याग्रह करने वाले भारतीयों पर क्रूरता के साथ लाठियाँ बरसाने वाले बर्बर हाथ, अँग्रेजों के नहीं, हम हिन्दुस्तानी दारोगाओं के ही होते थे। अपने ही देश के वासियों के ललाटों को लाठियों से लहू-लुहान करते हुए हमारे हाथ जरा भी नहीं काँपते थे। कारण यह कि हम चाकरी बहुत वफादारी से करते हैं और यदि वह गोरी चमड़ी वालों की हुई तो फिर कहने ही क्या?'

पूछा जा सकता है कि इतने निर्मम और निष्करुण साहस की वजह क्या थी? तो कहना न होगा कि दुनिया भर के मुल्कों के दरमियान 'सारे जहाँ से अच्छा' ये हमारा ही वो मुल्क है, जिसके वाशिनदों को बहुत आसानी से और सस्ते में खरीदा जा सकता है। देश में जगह-जगह घटती आतंकवादी गतिविधियों की घटनाएँ, हमारे ऐसे चरित्र का असंदिग्ध प्रमाणीकरण करती हैं। दूसरे शब्दों में हम आत्म-स्वीकृति कर लें कि 'भारतीय', सबसे पहले 'बिकने' और 'बेचने' के लिए तैयार हो जाता है और, यदि वह संयोग से व्यवसायी और व्यापारी हुआ तो सबसे पहले जिस चीज का सौदा वह करता है, वह होता है उसका जमीर। बाद इस सौदे के, उसमें किसी भी क्रिस्म की नैतिक-दुविधा शेष नहीं रह जाती है और 'भाषा, संस्कृति और अस्मिता' आदि चीजों को तो वह खरीददार को यों ही मुफ्त में बतौर भेंट दे देता है। ऐसे में यदि कोई हिंसा के लिए भी सौदा करे तो उसे कोई अड़चन अनुभव नहीं होती है। फिर वह हिंसा अपने ही 'शहर', 'समाज', या 'राष्ट्र' के खिलाफ ही क्यों न होने जा रही हो।

बहरहाल, मेरे प्यारे, भाई अब ऐसी हिंसा सुनियोजित और तेजगति के साथ हिन्दी के खिलाफ शुरू हो चुकी है। इस हिंसा के जरिए भाषा की हत्या की सुपारी आपके अखबार ने ले ली है। वह भाषा के खामोश हत्यारे की भूमिका में बिना किसी तरह का नैतिक-संकोच अनुभव किए खासी अच्छी उतावली के साथ उतर चुका है। उसे इस बात की कोई चिंता नहीं कि एक भाषा अपने को विकसित करने में कितने युग लेती है। (डेविड क्रिस्टल तो एक शब्द की मृत्यु को एक व्यक्ति की मृत्यु के समान मानते हैं। अँग्रेजी) कवि ऑडेन

तो बोली के शब्दों को इरादतन अपनी कविता में शामिल करते थे कि कहीं वे शब्द मर न जायें- और महाकवि टी.एस. एलियट प्राचीन शब्द, जो शब्दकोष में निश्चेष्ट पड़े रहते थे, को उठाकर समकालीन बनाते थे कि वे फिर से साँस लेकर हमारे साथ जीने लगे।) आपको, 'शब्द' की तो छोड़िये, 'भाषा' तक की परवाह नहीं है, लगता है आप हिन्दी के लिए हिन्दी का अखबार नहीं चला रहे हैं, बल्कि अँग्रेजी के पाठकों की नर्सरी का काम कर रहे हैं। आप हिन्दी के डेढ़ करोड़ पाठकों का समुदाय बनाने का नहीं, बल्कि हिन्दी के होकर हिन्दी को खत्म करने का इतिहास रचने जा रहे हैं। आप 'धन्धे में धुत्त' होकर जो करने जा रहे हैं, उसके लिए आपको आने वाली पीढ़ी कभी माफ नहीं करेगी। आपका अखबार उस सर्प की तरह है, जो बड़ा होकर अपनी ही पूँछ अपने मुँह में ले लेता है और खुद को ही निगलने लगता है। आपका अखबार हिन्दी का अखबार होकर, हिन्दी को निगलने का काम करने जा रहा है। जो कारण जिलाने के थे, वे ही कारण मारने के बन जाएँ, इससे बड़ी विडम्बना भला क्या हो सकती है? यह आशीर्वाद देने वाले हाथों द्वारा बढ़कर गरदन दबा दिये जाने वाली जैसी कार्यवाही है। कारण कि हिन्दी के पालने-पोसने और या कहेँ कि उसकी पूरी परवरिश करने में हिन्दी पत्रकारिता की बहुत बड़ी भूमिका रही आई है।

जबकि, आपको याद होना चाहिए कि सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से उपजी 'भाषा-चेतना' ने इतिहास में कई-कई लम्बी लड़ाइयाँ लड़ी हैं। इतिहास के पन्ने पलटेंगे तो आप पायेंगे कि आयरिश लोगों ने अँग्रेजी के खिलाफ बाक्रायदा एक निर्णायक लड़ाई लड़ी, जबकि उनकी तो लिपि में भी भिन्नता नहीं थी। फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश आदि भाषाएँ अँग्रेजों के साम्राज्यवादी वर्चस्व के विरुद्ध न केवल इतिहास में, अपितु इस 'इंटरनेट युग' में भी फिर नए सिरे से लड़ना शुरू कर चुकी हैं। इन्होंने कभी अँग्रेजी के सामने समर्पण नहीं किया।

बहरहाल मेरे इस पत्र का उत्तर अखबार मालिक ने तो नहीं ही दिया, और वे भला देते क्या? और देते भी क्यों? सिर्फ उनके सम्पादक और मेरे अग्रज ने कहा कि हिन्दी में कुछ जनेऊधारी तालिबान पैदा हो गये हैं, जिससे हिन्दी के विकास को बहुत बड़ा खतरा हो गया है। यह सम्पादकीय चिंतन नहीं अखबार के कर्मचारी की विवश टिप्पणी थी। क्योंकि उनसे तुरंत कहा जायेगा कि श्रीमान् आप अपने हिंदी प्रेम और नौकरी में से कोई एक को चुन लीजिए।

बहरहाल, अखबार ने इस अभियान को एक निर्लज्ज अनसुनी के साथ जारी रखा और पिछले सालों से वे निरंतर अपने संकल्प में जुटे हुए हैं। और अब तो हिन्दी में अँग्रेजी की अपराजेयता का बिगुल बजाते बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दलालों, विदेशी पूँजी को पचा कर मोटे होते जा रहे, हिन्दी के लगभग सभी अखबारों को यह स्वीकारने के लिए राजी कर लिया है कि इसकी नागरी-लिपि को बदल कर, रोमन करने का अभियान छेड़ दीजिए और वे अब इस तरफ कूच कर रहे हैं। उन्होंने इस अभियान को अपना प्राथमिक एजेण्डा बना लिया है। क्योंकि बहुराष्ट्रीय निगमों की महाविजय, इस सायबर युग में रोमन लिपि की पीठ पर सवार होकर ही बहुत जल्दी संभव हो सकती है। यह विजय अश्वों नहीं, चूहों की पीठ पर चढ़कर की जानी है। जी हाँ, कम्प्यूटर माऊस की पीठ पर चढ़कर।

अँग्रेजों की बौद्धिक चालाकियों का बखान करते हुए एक लेखक ने लिखा था- 'अँग्रेजों की विशेषता ही यही होती है कि वे आपको बहुत अच्छी तरह से यह बात गले उतार सकते हैं कि आपके हित में आप स्वयं का मरना बहुत जरूरी है। और, वे धीरे-धीरे आपको मौत की तरफ ढकेल देते हैं। ठीक इसी युक्ति से हिन्दी के अखबारों के चिकने और चमकीले पन्नों पर नई नस्ल के ये चिंतक यही बता रहे हैं कि हिन्दी का मरना, हिन्दुस्तान के सामाजिक-आर्थिक हित में बहुत जरूरी हो गया है। यह काम देश सेवा समझकर जितना जल्दी हो सके करो, वर्ना, तुम्हारा देश ऊपर उठ ही नहीं पाएगा। परिणाम स्वरूप वे हिन्दी को विदा

कर देश को ऊपर उठाने के लिए कटिबद्ध हो गये हैं।’

ये हत्या की अचूक युक्तियाँ भी बताते हैं, जिससे भाषा का बिना किसी हल्ला-गुल्ला किए ‘बाआसानी संहार’ किया जा सकता है।

वे कहते हैं कि हिन्दी का हमेशा-हमेशा के लिए खात्मा करने के लिए आप अपनाइये। ‘प्रॉसेस ऑफ कॉण्ड्रा-ग्रेज्युअलिज़म’। अर्थात्, बाहर पता ही नहीं चले कि भाषा को ‘सायास’ बदला जा रहा है। बल्कि, ‘बोलने वालों’ को लगे कि यह तो एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और म.प्र. के कुछ अखबारों की भाषा में, यह परिवर्तन उसी प्रक्रिया के तहत हो रहा है। बहरहाल, इसका ही तरीका है कि अपने अखबार की भाषा में आप हिन्दी के मूल दैनंदिन शब्दों को हटाकर, उसकी जगह अँग्रेज़ी के उन शब्दों को छापना शुरू कर दो, जो बोलचाल की भाषा में शेयर्ड - वकैब्युलरी की श्रेणी में आते हैं। जैसे कि रेल, पोस्ट कार्ड, मोटर, टेलिविजन, रेडियो आदि-आदि।

इसके पश्चात धीरे-धीरे इस शेयर्ड वकैब्युलरि में रोज-रोज अँग्रेज़ी के उन शब्दों को शामिल करते जाइये। जैसे माता-पिता की जगह छापिये पेरेंट्स/छात्र-छात्राओं की जगह स्टूडेंट्स/विश्वविद्यालय की जगह युनिवर्सिटी/रविवार की जगह संडे/यातायात की जगह ट्रेफिक आदि-आदि। अंततः उनकी तादाद इतनी बढ़ा दीजिए कि मूल भाषा के केवल कारक भर रह जायें। क्योंकि कुल मिलाकर रोजमर्रा के बोलचाल में बस हजार-डेढ़ हजार शब्द ही तो होते हैं।

यह चरण, ‘प्रॉसेस ऑफ डिसलोकेशन’ कहा जाता है। यानी की हिन्दी के शब्दों को धीरे-धीरे बोलचाल के जीवन से उखाड़ते जाने का काम।

ऐसा करने से इसके बाद भाषा के भीतर धीरे-धीरे ‘स्नोबॉल थियरी’ काम करना शुरू कर देगी - अर्थात् बर्फ के दो गोलों को एक दूसरे के निकट रख दीजिए, कुछ देर बाद वे घुलमिलकर इतने जुड़ जाएंगे कि उनको एक दूसरे से अलग करना संभव नहीं हो सकेगा। यह थियरी (रणनीति) भाषा में सफलता के साथ काम करेगी और अँग्रेज़ी के शब्द हिन्दी से ऐसे जुड़ जायेंगे कि उनको अलग करना मुश्किल होगा। यहाँ तक कि वे मूल से कहीं ज़्यादा अपनी उपस्थिति का दावा करेंगे।

इसके पश्चात शब्दों के बजाय पूरे के पूरे अँग्रेज़ी के वाक्यांश छापना शुरू कर दीजिए। अर्थात् इनक्रीज द चंक ऑफ इंग्लिश फ्रेजेज। मसलन ‘आऊट ऑफ रीच/बियाण्ड डाउट/नन अदर देन/आदि आदि। कुछ समय के बाद लोग हिन्दी के उन शब्दों को बोलना ही भूल जायेंगे। उदाहरण के लिए हिन्दी में गितनी स्कूल में बंद किये जाने से हुआ यह है कि यदि आप बच्चे को कहें कि अडसठ रुपये दे दो, तो वह अडसठ का अर्थ ही नहीं समझ पायेगा, जब तक कि उसे अँग्रेज़ी में सिक्सटी एट नहीं कहा जायेगा। इस रणनीति के तहत बनते भाषा रूप का उदाहरण एक स्थानीय अखबार से उठाकर दे रहा हूँ।’

‘मार्निंग अवर्स के ट्रेफिक को देखते हुए, डिस्ट्रिक्ट एडमिनिस्ट्रेशन ने जो ट्रेफिक रूल्स अपने ढंग से इम्प्लीमेंट करने के लिए जो जेनुइन एफर्ट्स किये हैं, वो रोड को प्रोन टू एक्सीडेंट बना रहे हैं। क्योंकि, सारे व्हीकल्स लेफ्ट टर्न लेकर यूनिवर्सिटी की रोड को ब्लॉक कर देते हैं। इन प्रॉब्लम का इमीडिएट सोल्यूशन मस्ट है।’

इस तरह की भाषा के लगातार पाँच-दस वर्ष तक प्रिंट माध्यम से पढ़ते रहने के बाद होगा यह कि अखबार के खासकर युवा पाठक की यह स्थिति होगी कि उसे कहा जाय कि वह हिन्दी में बोले तो वह गूंगा हो जायेगा। उनकी इस युक्ति को वे कहते हैं ‘इल्यूज़न ऑफ स्मूथ ट्रांजिशन’। अर्थात् हिन्दी की जगह अँग्रेज़ी

को निर्विघ्न ढंग से स्थापित करने को सफल छद्म का अंतिम और अचूक पायदान-हिन्दी का हिंग्लिश में बदल जाना।

आप को यह याद ही होगा कि एक भली चंगी भाषा से उसके रोजमर्रा के साँस लेते शब्दों को हटाने और उसके व्याकरण को छीन कर उसे बोली में बदल दिये जाने को क्रियोल कहते हैं। अर्थात् हिन्दी का हिंग्लिश बनाना एक तरह से उनका क्रियोलीकरण करना है। और कांट्रा-ग्रेजुअलिज्म के हथकंडों से, बाद में उसे डि-क्रियोल किया जायेगा। डिक्रियोल करने का अर्थ, उसे पूरी तरह अँग्रेजी के द्वारा विस्थापित कर देना।

भाषा की हत्या के एक नव-उपनिवेशी योजनाकार ने, अगले और अंतिम चरण को कहा है कि फायनल असाल्ट ऑन हिन्दी। बनाम हिन्दी को नागरी लिपि के बजाय रोमन-लिपि में छापने की शुरुआत करना। अर्थात् हिन्दी पर अंतिम प्राणघातक प्रहार। बस हिन्दी की हो गई अन्त्येष्टि। चूँकि हिन्दी को रोमन में लिख पढ़कर बड़ी होने वाली पीढ़ी के लिए। वह नितांत अपठनीय हो जायेगी। इसी युक्ति से गुयाना में जहाँ 43 प्रतिशत लोग हिन्दी बोलते थे को फ्रेंच द्वारा डि-क्रियोल कर दिया गया और अब वहाँ देवनागरी की जगह रोमन-लिपि को चला दिया गया है। यही काम त्रिनिदाद में इस षड्यंत्र के जरिए किया गया है। नतीजतन, वहाँ नागरी लिपि अपाट्य हो जाने वाली है।

जबकि, विडम्बना यह है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के धूर्त दलालों के दिशा निर्देश में, संसार की इस दूसरी बड़ी बोले जाने वाली भाषा से उसकी लिपि छीन कर, उसे रोमन लिपि थमाने की दिशा में हिन्दी के ही सभी अखबार जुट गए हैं। वे हिन्दी का क्रियोलीकरण कर रहे हैं। उन्होंने यह स्पष्ट धारणा बना ली है कि वे अब हिन्दी के लिए हिन्दी का अखबार नहीं निकाल रहे हैं, बल्कि अँग्रेजी के अखबार की नर्सरी का काम कर रहे हैं। क्योंकि, देर-सबेर इसी को ही तो भारत की राष्ट्रभाषा बनाना है। प्राथमिक शिक्षा के लिए विश्व-बैंक द्वारा प्राप्त धन का यही तो आखरी सुफल है, क्योंकि आगे जाकर समूची आरंभिक शिक्षा के कार्यान्तरण के कर्मकाण्ड को पूरा किया जाना एक अघोषित शर्त है, जिसमें हिन्दी के कई अखबार मिल-जुलकर आहुतियाँ दे रहे हैं। वे स्वाहा-स्वाहा करते हुए हिन्दी की आहुति चढ़ा रहे हैं। उन्होंने अपने हिन्दी-समाचार पत्रों में, बच्चों के लिए निर्धारित पृष्ठों पर अँग्रेजी सिखाने का श्रीगणेश कर दिया है। एक एजुकेशन फॉर ऑल का उद्घोष, वस्तुतः 'इंग्लिश फॉर ऑल' ही है। क्योंकि, आज ई.एल.टी. (इंग्लिश लर्निंग और टीचिंग) उद्योग की धनराशि रक्षा बजटों के आसपास पहुँचने की तैयारी में है।

वे आजादी मिलने के साथ ही गाँधी-नेहरू की पीढ़ी द्वारा कर दी गयी महाभूल को वे दुरुस्त करने में लगे हैं, जिसके चलते अंधराष्ट्रवादी उन्माद में हिन्दी को राष्ट्रभाषा की जगह बिठा दिया था - जबकि, यह तो सत्ता की भाषा बनने के लायक ही नहीं थी। यह तो अपढ़ गुलामों और मातहतों और अज्ञानियों की भाषा थी और उसे वैसा ही बने रहना चाहिए। इसी क्रिस्म की इच्छा और संकल्प की अनुगूँज गुरुचरणदास एवं अमेरिका की बर्कली विश्वविद्यालय की प्रोफेसर गेल ओमवेत जैसे लोगों के प्रायोजित लेखों से सुनाई देती है, जो इन अखबारों के सम्पादकीय पृष्ठों पर छपते रहते हैं। वे बार-बार कहते हैं कि जल्द ही हिन्दुस्तान, दुनिया की आने वाले दो सौ वर्षों के लिए 'भाषाशक्ति' बनने वाला है - जबकि वे जानते हैं कि इससे बड़ा धोखा और कोई हो ही नहीं सकता। वास्तव में वे भारत को 2000 बरस के लिए गुलाम बनाने के लिए ठेके का काम ले चुके हैं। वे उसे उस दिशा में घेरने की निविदा हथिया चुके हैं। इस घेरने के काम में अखबार सबसे सुंदर और सुविधाजनक लाठी है।

पिछले दिनों, अमेरिका में गरीब मुल्कों की आँखें खोल देने वाली एक पुस्तक छप कर आयी है, जिसे न लिखने के लिए सी.आई.ए. ने एक मिलियन डॉलर रिश्वत देने की पेश की थी - लेकिन,

लेखक ने उनके इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और साहस जुटा कर प्रायश्चित के रूप में लिख ही डाली यह पुस्तक: 'कन्फेशन ऑफ एन इकोनोमिक हिटमैन'। नोम चोमस्की और डेविड सी. कोर्टन जैसे बुद्धिजीवियों ने, लेखक को उत्साहित करते हुए कहा कि इसका प्रकाशन शेष संसार का तो हित करेगा ही, बल्कि, इससे अमेरिका का भी हित ही होगा। इसलिए इसका छपना ज़रूरी है।

बहरहाल, पुस्तक के लेखक जॉन पार्किन्स ने उसमें विस्तार से बताया कि किस तरह बहुराष्ट्रीय निगमों के ज़रिए अमेरिका ने तीसरी दुनिया के गरीब मुल्कों के आर्थिक ढांचे को तहस-नहस कर दिया कि नतीजतन वे सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर भी विपन्न हो गए। कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसे ही बहुराष्ट्रीय निगमों और विश्व-बैंक के पूर्व कर्मचारी हिन्दी के अखबारों के 'तथाकथित-सम्पादकीय पृष्ठों' पर कब्जा करते जा रहे हैं। वे इन दिनों हमारे हिन्दी के समाचार पत्रों द्वारा इस भूमण्डलीय युग के चिंतक और राष्ट्र निर्माता बन गये हैं। भारत में अँग्रेज़ी के अश्वमेध में भिड़े ये लोग, अँग्रेज़ी की अपराजेयता का इतना बखान करते हैं कि सामान्यजन ही नहीं, कई राजनेताओं और शिक्षाविदों को लगता है, जैसे आर्थिक प्रलय की घड़ी सामने है और उसमें अब केवल अँग्रेज़ी ही मत्स्यावतार है। अतः हमें लगे हाथ उसकी पीठ पर इस आर्यभूमि को चढ़ा देना चाहिए, वरना यह रसातल में डूब जायेगी। ये सब देश को बचाने वाले लोग हैं। वे कहते हैं, एक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तुम्हें सभ्य बनाया। अब जो आ रही हैं, वे तुम्हें सम्पन्न बनायेगी। माँ तो माँगने पर ही रोटी देती है, ये तुम्हें बिना मांगे माल देंगे। तुम्हें मालामाल कर देंगी। फिर भी तुम 'माँगोगे मोर'। इसलिए हिन्दी को छोड़ो और अँग्रेज़ी का दामन थामो।

अँग्रेज़ों की विरुदावली गा-गाकर गला फाड़ते ये किराये के कोरस गायक, यह क्यों भूल जाते हैं कि चीनी (जिसमें ढाई हजार चिन्हनुमा अक्षर हैं) - और जापानी जैसी चित्रात्मक लिपियों वाली भाषाओं ने अँग्रेज़ी की विसाखी के बग़ैर ही बीसवीं सदी के सारे ज्ञान-विज्ञान को अपनी उन्हीं चित्रात्मक लिपियों वाली भाषा में ही विकसित किया और आज जब संसार में व्यापार, तकनॉलाजी या आर्थिक क्षेत्रों के संदर्भ खुलते हैं तो कहा जाता है, लिंचपिन ऑफ वर्ल्ड-इकोनॉमी एण्ड टेकनॉलॉजी हेज शिफ्टेड फ्रॉम अमेरिका टू जापान। हालाँकि, कुछ लोग अब जापान के साथ चीन का नाम भी लेने लगे हैं और यह किसी से छुपा नहीं है कि अब अमेरिका चीन से भी चमकने लगा है। क्योंकि वह शीघ्र ही सूचना प्रौद्योगिकी पर कब्जा करने वाला है। क्योंकि, अमेरिका में पढ़ रहा एक चीनी छात्र, यदि वहाँ रहकर कोई कम्प्यूटर सॉफ्टवेअर विकसित करता है तो साथ ही साथ उसे वह अपनी चीनी भाषा में विकसित करता है और अपने देश में पहुँचते ही वह उसे स्थापित कर देता है। जबकि, हिन्दी की नागरी लिपि, जो संसार भर की तमाम भाषाओं की लिपियों में श्रेष्ठ और वैज्ञानिक है, को अँग्रेज़ी का रास्ता साफ करने के लिए निर्दयता के साथ मारा जा रहा है। वे अपने धूर्त मुहावरे में बताते हैं कि अखबार इस तरह हिन्दी को नष्ट नहीं कर रहे हैं, बल्कि ग्लोबल बना रहे हैं। वे हिन्दी को एक प्रेश-लिंक्विस्टिक लाइफ दे रहे हैं। हम जानना चाहते हैं कि भैया आप किसे मूर्ख बना रहे हैं - जिस हिन्दी को राष्ट्र संघ की भाषा सूची में शामिल नहीं करवा सके, उसे 'हिंग्लिश' बनाकर ग्लोबल बनायेंगे? और 'हिंग्लिश' बन कर, हिन्दी ग्लोबल होगी कि वह अँग्रेज़ी के 'महामत्स्य' के पेट में पहुँच जाएगी? यह भाषा के विकास के नाम पर खेला जाने वाला शताब्दी का सबसे बड़ा छल है।

डेविड सी. कोर्टन ने वैश्वीकरण की हकीकत उजागर करते हुए ठीक ही कहा है कि ग्लोबलाइजेशन का अर्थ सरकारों और बहुराष्ट्रीय निगमों का पारस्परिक संबंध भर है। वह कहता है कि इसीलिए ग्लोबलाइजेशन की प्राथमिक कार्रवाई यही होती है कि जिस किसी चीज़ में भी 'राष्ट्रीयता' की बू आये, उसे अविलम्ब हटाइये। इस 'सैद्धान्तिकी' के मुताबिक निश्चय ही 'हिन्दी' ग्लोबलाइजेशन के पहले निशाने पर है, चूँकि इससे राष्ट्रीयता की बहुत तीखी और बरदाश्त बाहर गंध आती है। वजह यह कि हिन्दी का रिश्ता राष्ट्रभाषा

के रूप में नाथ देने से यह भारत के कुछ प्रदेशों की जनता की नज़र में राष्ट्रीय-अस्मिता का पर्याय बन गयी है। नतीजतन, इस पर चढ़े राष्ट्रीयता के इस कवच को हटाना ज़रूरी है, वरना यह मारे जाने में काफी समय लेगी। बहुत मुमकिन है कि लोग इसकी हत्या के प्रकट पैतरो को देख कर हो-हल्ला करते हुए एकमत होने लगें। लेकिन भूमण्डलीकरण की सफलता तभी है जब लोग भाषा और भूगोल को लेकर एकमत होना छोड़ दें। राष्ट्र राज्य की बात करने वाले को, लगे हाथ मूर्ख बताने के लिए अविलम्ब आगे आयें।

इसी संभावित संकट को भाँप कर दलाल लोग यह कहते फिरते हैं कि हिन्दी को राजभाषा या राष्ट्रभाषा के पाखण्ड से मुक्त करके 'जनता की गाढ़ी कमाई से खींचे गए' पैसों का बहाया जाना अविलम्ब रोका जाये। क्योंकि इससे उसे अकारण ही ऑक्सीजन मिलती रहती है। जबकि उसकी ब्रेन-डेथ हो चुकी है। उसमें सोचने समझने की क्षमता ही नहीं। राजभाषा के नाम पर धन उड़ेलने से एक और समस्या पैदा हो जाती है, वह यह कि एक ओर, भाषा के जिस पुराने रूप को अखबार नष्ट करने में मेहनत करते हैं, दूसरी ओर राजभाषा के नाम पर धन उड़ेलने से, भाषा का वह पुराना रूप, एक मानक के रूप में ज़िंदा बना रहता है।

अंग्रेज़ी इस बात में तो आरंभ से सतर्क रही और उसने हिन्दी का अन्य भारतीय भाषाओं से सहोदरा संबंध बनाने ही नहीं दिया, उल्टे वैमनस्य और अदम्य बैभाव को बढ़ाये रखा- लेकिन, हिन्दी की, अपनी बोलियों से जड़ें इतनी गहरी बनी और रही आयीं कि उसको वहाँ से उखाड़ना मुश्किल रहा। बहरहाल, ये काम अब मीडिया ने अपने हाथ में ले लिया है। बोलियों का संहार करने में, जो काम इलेक्ट्रॉनिक-मीडिया कर रहा है, उसे दस कदम आगे जाकर हिन्दी के अखबार कर रहे हैं। जो अखबार साढ़े तीन रुपये में बिकते हुए जानलेवा और आर्थिक कठिनाई का रोना रो रहे थे, वे अब एक या डेढ़ रुपये में चौबीस पृष्ठों के साथ अपनी चिकनाई और रंगीनी बेच रहे हैं। स्पष्ट है, यह विदेशी चंचला धनलक्ष्मी है। क्या ये लोग नहीं जानते कि यह पूँजी 'अस्मिताओं' का 'विनिमय' नहीं, बल्कि अस्मिताओं का सीधा-सीधा 'अपहरण' करती है। यह अखबारों को अपनी 'हवाई सेना' बनाकर, 'विचारों का विस्फोट' करती है, और विस्फोट वाली जगह पर थल-सेना कब्ज़ा कर लेती है। इसी के चलते अखबार 'बाज़ारवाद' के लिए जगह बनाने का काम कर रहे हैं। वे पहले 'विचार' परोसते थे, अब 'वस्तु' परोस रहे हैं - अलबत्ता, खुद 'वस्तु' बन गये हैं। इसी के चलते अखबारों में संपादक नहीं, ब्राण्ड-मैनेजर बरामद होते हैं। अखबारों की इस नई प्रथा ने, 'मच्छरदानी' की 'सैद्धान्तिकी' का वरण कर लिया है। कहने को वह 'मच्छर-दानी' होती है परन्तु उसमें मच्छर नहीं होता। वह बाहर ही बाहर रहता है। ठीक इसी तरह अखबार में अखबारनवीस को छोड़कर, सारे विभागों के भीतर सब वाजिब लोग होते हैं। सब सम्पादकीय विभाग में सम्पादक नहीं होता। इसीलिए, आपस में पत्रकार बिरादरी एडिटोरियल को एडव्हरटोरियल विभाग कहती है। अब इस मार्केट-ड्राइवन पत्रकारिता में सम्पादकीय-विभाग, विज्ञापन-विभाग का मातहत है। यहाँ तक कि प्रकाशन योग्य सामग्री भी वही तय करता है। यों भी सम्पादकीय पृष्ठ दैनिक अखबारों में अब बुद्धिजीवियों के वैचारिक अभिव्यक्ति के लिए नहीं, राजनीतिक दलों के 'व्यू-पाइण्ट' (?) के लिए आरक्षित होते जा रहे हैं। वे राजनीतिक जनसंपर्क हेतु सुरक्षित पृष्ठ हैं। यह उसी पूँजी के प्रताप का प्रपात है, जो बाहर से आ रही है।

ऐसे में निश्चय ही वे हड़का कर पूछना चाहें कि बताइए भला यह कैसे हो सकता है कि आप पूँजी तो हमारी लें और 'भाषा और संस्कृति' आप अपनी विकसित करें? यह नहीं हो सकता। हमें अपने साम्राज्य की सहूलियत के लिए 'एकरूपता' चाहिए। सब एक-सा खायें। एक-सा पियें। एक-सा बोलें। एक-सा लिखें-लिखायें। एक-सा सोचें। एक-सा देखें। एक-सा दिखायें। तुम अच्छी तरह से जान लो कि यही संसार के एक ध्रुवीय होने का अटल सत्य है। हमारे पास महामिक्सर है - हम सबको फेंट कर 'एकरूप' कर देंगे। बहरहाल, उन्होंने भारत के प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को अपना महामिक्सर बना लिया है। इसलिए,

अब अखबार और अखबार के बीच की पहली वाली वह स्पर्धा जो धीरे-धीरे गला काट हो रही थी अब क्षीण हो गयी है। चूँकि अब वे सब एक ही अभियान में शामिल, सहयात्री हैं। उनका अभीष्ट भी एक है और वह है, 'वैश्वीकरण' के लिए बनाये जा रहे मार्ग का प्रशस्तीकरण। सो आपस में बैर कैसा? हम तो आपस में कमर्शियल-कजिन्स हैं। आओ, हम सब मिलकर मारें हिन्दी को। अब भारत की असली हिन्दी पत्रकारिता हिन्दी की ऐसी ही आरती उतार रही है।

यहाँ यह याद दिलाना जरूरी है कि आज जिस हिन्दी को हम देख रहे हैं - उसे 'पत्रकारिता' ने ही विकसित किया था। क्योंकि, तब की उस पत्रकारिता के खून में राष्ट्र का नमक और लौहत्व था जो बोलता था। अब तो खून में लौह तत्व की तरह एफडीआई (फॉरेन डायरेक्ट इन्वेस्टमेन्ट) बहने लगा है। अतः वही तो बोलेगा। उसी लौहत्व की धार होगी जो हिन्दी की गर्दन उतारने के काम में आयेगी। हालांकि, अखबार जनता में मुगालता पैदा करने के लिए वे कहते हैं, पूँजी उनकी जरूर है, लेकिन चिन्तन की धार हमारी है। अर्थात् सारा लोहा उनका, हमारी होगी धार। अर्थात् भैया हमें भी पता है कि धार को निराधार बनाने में वक्त नहीं लगेगा। तुम्ही बताओ, उन टायगर इकनॉमियों का क्या हुआ, जिनसे डरकर लोग कहने लगे थे कि पिछली सदी यूरोप या पश्चिम की रही होगी, यह सदी तो इन टायगरों की होगी। कहाँ गये वे टायगर? उनके तो तीखे दाँत और मजबूत पंजे थे। नई नस्ल के ये कार्पोरेटी चिन्तक रोज-रोज बताते हैं - हिन्दुस्तान विल बी टायगर ऑफ टुमॉरो।

भैया ये जुमले सुनते-सुनते हमारे कान पक गये। हमें टुमॉरो का कुछ नहीं बनना, बल्कि जो कुछ बनना है आज का बनना है। हम कल के टायगर होने के बजाय आज की गाय होने और बने रहने में संतुष्ट हो लेंगे। गाय घास खायेगी तथा दूध और गोबर देगी और उससे हमारी खेतियों की सेहत ठीकठाक बनी रहेगी। हमारे किसान आत्महत्या करने से बच जाएंगे। लेकिन तुम हो कि थोड़े से चमड़े के लिए पूरी की पूरी जिंदा गाय को मार रहे हो।

तब की पत्रकारिता में अपने देश और समाज को गढ़ने-रचने का साहस था, संकल्प था, समझ और स्वप्न भी था (बेशक उसमें राष्ट्रीय-पूँजीवाद की एक बड़ी व ऐतिहासिक भूमिका भी थी।)। वह जख्मी कलम के साथ बारूद और बंदूक की बर्बरता के खिलाफ लड़ी थी। इस कारण वह भाषा के मसले को गहरे ऐतिहासिक विवेक के साथ देख रही थी। यहाँ गाँधी का प्रसंग उल्लेखनीय लगता है। वे भी पत्रकार थे। आजादी की घोषणा के बाद जब बी.बी.सी. ने उन्हें बुलाया तो उन्होंने प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा था, 'संसार को कह दो गाँधी को अँग्रेजी नहीं आती। गाँधी अँग्रेजी भूल गया है।' यह एक नवस्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण के बड़े स्वप्न का उत्तर था। यह वाक्य नहीं, एक भावी महासमर के प्रारूप का खुलासा था। उन्हें यह अहसास था कि अपनी भाषा के अभाव में, राष्ट्र फिर से गुलामी के नीचे चला जाएगा। उन्होंने स्वयं को वर्गच्युत करके, जिस तरह भारतीय समाज के आखिरी आदमी के बीच खुद को नाथ लिया था, उसने उन्हें इस बात के लिए और अधिक दृढ़ कर लिया था कि अँग्रेजी की औपनिवेशिक दासता से मुक्त नहीं हुए तो इतनी लम्बी लड़ाई के बाद हासिल की गई आजादी का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। उन्होंने ये बात कई-कई जगह और अपनी चिट्ठियों तथा पर्चों में भी बार-बार लिखी और छपी।

अब यह भ्रम हमें दूर कर लेना चाहिए कि भाषा बोले जाने वाले लोगों की संख्या से बड़ी है। यह मूर्ख मुगालता है। बोला जाना 'कामचलाऊ संप्रेषण' का संवादात्मक रूप है, चिन्तनात्मक नहीं। वह हमेशा ही 'आज' 'अभी' 'ताबड़तोड़' बनाम अनियंत्रित अधीरता से भरा होता है। नतीजतन, उसे इस बात की कोई जरूरत और फुरसत नहीं होती कि वह अँग्रेजी के किसी नये शब्द का पर्याय ढूँढ़े या उसके लिए नया शब्द गढ़े। जैसे कि पिछली पीढ़ी ने मेम्बर ऑफ पार्लियामेंट के लिए पहले संसद सदस्य शब्द गढ़ा फिर अन्त में

सांसद शब्द बनाया। लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया अँग्रेज़ी को जस का दस उठाकर अपनी फौरी ज़रूरत पूरी कर लेता है। इसी आदत ने हिन्दी में, शेयर्ड वकैव्युलरि को बढ़ाया और अखबारों ने लगे हाथ, उसे एक अभियान की तरह उठा लिया। इसलिए, भाषा के इस खिचड़ी रूप का जयघोष करते हुए, जो लोग भाषा की सुंदर सेहत का प्रचार कर रहे हैं, या तो वे इस खतरनाक मुहिम का बेशर्म हिस्सा हैं, या फिर उनकी समझ का कांकड़ ही छोटा है। मेरे खयाल से पहली बात ज्यादा सच्ची और सही है।

इसके साथ ही ऐसे महामूर्खों या फिर चालाकों की कमी नहीं है जो हर समय इस बात की डूंडी पीटते रहते हैं कि लो अब तो तुम्हारी हिंग्लिश ब्रिटेन में भी लोकप्रिय हो गई है। यह बात ऐसे महातथ्य की तरह प्रचारित की जा रही है जैसे हमारी हिन्दी ने अँग्रेज़ी की सदियों की कुलीनता की कलाई झटक कर उसे सिंहासन से उतारकर सड़क पर ला दिया है। आभिजात्य का प्रोलेतेरीकरण कर दिया है। रॉयल को रौंद दिया है। देखो! गौरांग प्रभु ने कुलीनता के कवच को खदेड़कर तुम्हारी हिंग्लिश का झगला धारण कर लिया है। यह हिन्दी की उपलब्धि नहीं, सिर्फ भारतीयों की गुलाम मानसिकता की सूचना है। यह दासी का क्वीन के करीब पहुँच जाने का मूर्ख और मिथ्या रोमांच है, जो हिन्दी के हिंग्लिशियाते अखबारों की प्रथम पृष्ठों की खबर बनाता है।

जब भी अँग्रेज़ी द्वारा हिन्दी को हिंग्लिश बनाये जाने की चिंता प्रकट की जाती है, तो कुछ लोग अपनी अज्ञानता में और चंद चालाक लोग अपनी धूर्तता में एक कविताई सच के जरिए हमें समझाने के लिए आगे आ जाते हैं कि कुछ है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। जबकि, हकीकत ये है कि हमारी हस्ती कभी की पस्ती में बदल चुकी है। हमारी भाषा हमारी संस्कृति कभी के घुटने टेक चुकी है। हमारा पूरा व्यक्तित्व (परसोना) पिछले दशकों में पश्चिमी हो चुका है, जो अब अमेरिकाना होने की तरफ बढ़ रहा है। किसी ने कहा था – आज लोग अमेरिका जाकर अमेरिकाना बन रहे हैं, लेकिन शीघ्र ही वह समय आयेगा जबकि अमेरिका आपके घर में घुसकर आपको अमेरिकन बना देगा। यह मिथ्या कथन-सी लगने वाली बात धीरे-धीरे सत्य का रूप धारण कर रही है। इसलिए अब मॉडर्निज़्म एक पुराना और बासी शब्द है, जिसे छिलके की तरह उतारकर उसकी जगह नया 'अमेरिकाना' शब्द जगह ले चुका है। यहाँ तक कि विज्ञापनों में अब अमेरिकी मॉडलों का उपयोग इस तरह किया जाता है, गालिबन भारतवंशियों! ये तुम्हारे नये देव-पुरुष हैं और तुम्हें इन्हीं के सम्मुख दण्डवत् होना है। पूरा मीडिया गोरी चमड़ी, गोरी भाषा का जिस बेशर्मा से आदर्शीकरण कर रहा है, वह देखने लायक है।

दरअसल, 'अस्मिता' की इन दिनों एक नई और माध्यम निर्मित अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए उसका प्रचार और वकालत की जा रही है। यूँ भी अब वही सबको परिभाषित करता है और तमाम जीवन और समाज के तमाम मूल्यों का प्रतिमानीकरण करने का औजार बन चुका है। दूसरी तरफ हम अपनी सनातन रूढ़-सांस्कृतिक आत्मछवि से इतने मोहासक्त हैं कि प्रत्यक्ष और प्रकट पराजय को स्वीकारना नहीं चाहते हैं। बर्बर उपनिवेश के विरुद्ध लड़ने की निरन्तरता को जीवित बनाये रखने के लिए ऐसी अपराजय का अस्वीकार पराधीनता के दौर में, राष्ट्रवाद की नब्जों में प्राण फूँकने के काम आता था। कुछ है कि हस्ती मिटती ही नहीं – तब, यह दम्भोक्ति अचूक और अमोघ बनकर काम करती थी। जन-जन को जोड़ने और जगाने का जुमला था ये कि लगे रहो भैया। निश्चित ही उस दम्भोक्ति ने ब्रिटिश उपनिवेश के विरुद्ध संघर्ष में समूचे राष्ट्र को लगाये रक्खा और हमने अँग्रेज़ों को हकालकर बाहर कर दिया। लेकिन वह अपने दंशका ज़हर खून में इस कदर शामिल कर चुका था कि हम आज हिन्दी को हिन्दी से हिंग्लिश बनते देख रहे हैं कि कहते हैं कि कुछ नहीं होगा, वह हर हाल में बची रहेगी। हस्ती है कि मिटती नहीं कहते हुए हम यह लांछन अपने माथे पर लेने के लिए तैयार हैं कि हमने अपनी भाषा को अपने सामने दम तोड़ते हुए देखा और कुछ

नहीं किया।

बहरहाल, इस सारे मसले पर एक व्यापक राष्ट्रीय-विमर्श की जरूरत है। हमें याद रखना चाहिए कि कई नव स्वतंत्र राष्ट्रों ने अपनी भाषा को अपनी शिक्षा और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनाया। इसलिए, आज उनके पास उनका सब कुछ सुरक्षित है। हमने अपनी राजनीतिक भीरुता के चलते भाषा के मसले पर पुरुषार्थ नहीं दिखाता। इसी की वजह है कि हमसे आज का ये धोखादेह समय हमारे सर्वस्व को जिबह के लिए मांग रहा है। आज हमारी आजादी वयस्क होते ही राजनीति के ऐसे छिनाले में फंस गई है कि सारा देश मीडिया में चल रहा व्यवस्था का मुजरा देख रहा है। पूरा समाज मीडिया और माफिया आपरेटेड बन गया है। अब मीडिया ही आरोप तय करता है, वही मुकदमा चलाता है और अंत में अपनी तरह से अपनी तरह का फैसला भी सुनाता रहता है और विडम्बना यह कि वह यह सब जनतंत्र की दुहाई देकर करता है, जबकि अपनी आलोचना का हक वह किसी को नहीं देता और अपने आत्मालोचन के लिए तो उसके पास समय ही नहीं है। ऐसी बातें सुनने की घड़ी में वह अपने कान से हियरिंग-एड निकाल लेता है।

राजनीति ने तो भाषा, शिक्षा, संस्कृति जैसे प्रश्नों पर विचार करना बहुत पहले ही स्थगित कर रखा है। भारत में राजनीति एक नया, पूँजी निवेश का क्षेत्र है। इसलिए, वह तो देश बाजार तथा एन.जी.ओ. के भरोसे छोड़कर मुक्त हो गई है। यों भी उसमें प्रविष्टि की अर्हता, हत्या और घूस लेकर कानून के शिकंजे से सुरक्षित बाहर आ जाना हो गया है - और जो इन अर्हताओं से रहित हैं, वे देश को एक प्रबंध-संस्थान की तरह चलाने की भूमण्डलीकरण की वैश्विक दृष्टि मानते हैं और वे उसके राजनीतिक प्रबंधक का काम कर रहे हैं। यह राजनीतिक संस्कृति की समाज से बिदाई की घड़ी है, जिसने संस्थागत अपंगता को असाध्य बन जाने की तरफ हाँक दिया है। हम क्या थे? हम क्या हैं और क्या होंगे अभी? जैसे प्रश्नों पर बहस करना मूर्खों का चिंतन हो गया है। जबकि, ये प्रश्न शाश्वत रहे हैं और हमेशा ही उत्तरों की माँग करते रहेंगे। इसलिए, हमें अपने इतिहास को जीवित बचाकर रखना जरूरी है, क्योंकि भविष्य का जब सौदा होगा, उसमें हमारी कम, हमारे अतीत की भूमिका बहुत बड़ी होती है। वरना, वह भाषा की मृत्यु के साथ दफन हो जायेगा। वे हमें हालीवुड की तरह भविष्यवादी फन्तासियों में जीने के लिए तैयार किये दे रहे हैं।

कुछ दिनों पूर्व विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ, उसमें तालियाँ कूटने के बजाय इस प्रश्न पर बहुत शिद्दत से सोचा जाना चाहिए था कि हम शेष संसार के मुल्क बोस्निया, जावा, चीन, आस्ट्रिया, बल्गारिया, डेनमार्क, पुर्तगाल, जर्मनी, ग्रीक, इटली, नार्वे, स्पेन, बेल्जियम, क्रोएशिया, फिनलैंड, फ्रांस, हंगरी, नीदरलैंड, पौलेण्ड या स्वीडन की तरह अपनी ही मूल-भाषा में शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र के लिए जगह बनाने के लिए क्या कर सकते हैं? क्योंकि, बकौल सेम पित्रोदा, सिर्फ एक प्रतिशत ही है, जो लोग अँग्रेज़ी जानते हैं। या कि हमें अफ्रीकी उपमहाद्वीप बन जाने की तैयारी करना है। प्रसंगवश यहाँ एक भाषिक उपनिवेश के सिद्धान्तकार का पूर्वाक्त कथन याद आ रहा है - वे कहते हैं अभी तक हमारा ध्यान अफ्रीका पर केन्द्रित था, अब हम एशिया पर एकाग्र कर रहे हैं। अंत में, अफ्रीका महाद्वीप में स्वाहिली लेखक की पीड़ा को भारतीय उपमहाद्वीप की पीड़ा का पर्याय बनाना है। उसने कहा कि जब ये नहीं आए थे तो हमारे पास हमारी कृषि, हमारा खानपान, हमारी वेशभूषा, हमारा संगीत और हमारी अपनी कहे जाने वाली संस्कृति थी - इन्होंने हमें अँग्रेज़ी दी और हमारे पास हमारा अपने कहे जाने जैसा कुछ नहीं बचा है। हम एक त्रासदी आत्महीनता के बीच जी रहे हैं।

हमारी हिन्दी पत्रकारिता को सोचना चाहिए कि विदेशी धन के बलबूते पर खुद को मीडिया-मुगल बनाने के बजाय वह सोचें कि अन्ततः भारतीय भाषाओं को आमतौर पर और हिन्दी को खासतौर पर हटाकर, वह देश को आत्महीनता के जिस मोड़ की तरफ घेरने जा रही है। वह, उस कल्चरल इकोनॉमी की

सुनियोजित युक्ति है, जो एक नव-उपनिवेशवादी में जन्मी हैं। इसके साथ यह भी सोचें कि कहीं ऐसा न हो कि वे केवल प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की आरती उतारने वाले भर रह जायें और देवपुरुष कोई अन्य हो जाये। बाहर की लक्ष्मी आयेगी तो वह विष्णु भी अपना ही लायेगी। आपके क्षीरसागर के विष्णु सोए ही रह जायेंगे।

क्या हमारी भारतीय भाषाओं के साथ, हिन्दी के ये हिंग्लिशियाते अखबार इस पर कभी सोचते हैं कि पाओलो फ्रेरे से लेकर पॉल गुडमेन तक सभी ने प्राथमिक शिक्षा के सर्वश्रेष्ठ माध्यम को मातृभाषा ही माना है और हम हिन्दुस्तानी हैं कि हमारे रक्त में रची बसी भाषा को उसके माँस-मज्जा सहित उखाड़कर फेंकने का संकल्प कर चुके हैं। दरअसल, औपनिवेशक दासत्व से ढूँस-ढूँसकर भरे हमारे दिमागों ने हिन्दी के बल पर पेट भर सकने की स्थिति को कभी बनने ही नहीं दिया, उल्टे धीरे-धीरे शिक्षा में निजीकरण के नाम पर शहरों में गली-गली केवल अँग्रेजी सिखाने की दुकानें खोलने के लिये लायसेंस उदारता के साथ बाँटे गये। उन्हें इस बात का कतई इल्हाम नहीं रहा कि वे समाज और राष्ट्र के भविष्य के साथ कैसा और कौन सा सलूक करने की तैयारी करने जा रहे हैं। पूँजीवादी भूमण्डलीकरण से देश स्वर्ग बन जायेगा, ऐसी अवधारणाएँ हिन्दी में अधिकचरे ग्लोबलिस्टों की इतनी भरमार है कि वे एक अरब लोगों के भविष्य का मानचित्र मनमाने ढंग से बनाना चाहते हैं - और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि पूरा देश गूंगों की नहीं अंधों की शैली में आँख मीचकर गुड़ का स्वाद लेने में लगा हुआ है, उनकी व्याख्याओं में भाषा की चिंता एक तरह का देसीवाद है जो भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक अनुकूलन को हजम नहीं कर पा रहा है। वे इसे मरणासन्न देसीवाद का छाती-माथा कूटना कहकर उससे अलग होने के लिए उकसाने का काम करते हैं। ताकि, अंग्रेजों के विरुद्ध कहीं कोई भाषा-आंदोलन खड़ा न हो जाए।

यदि हमें हिन्दी को आमतौर पर और तमाम अन्य भारतीय भाषाओं को खासतौर पर बचाना है, तो पहले हमको प्राथमिक-शिक्षा पर एकाग्र करना होगा और विराट-छद्म को नेस्तनाबूत करना होगा, जो बार-बार ये बता रहा है कि अगर प्राथमिक शिक्षा में पहली कक्षा से ही अँग्रेजी अनिवार्य कर दी जाये, तो देश फिर से सोने की चिड़िया बन जायेगा। जहाँ तक भाषा में महारत का प्रश्न है, संसार भर में हिन्दुस्तान के ढेरों प्रतिभाशाली वैज्ञानिक उद्योगपति और रचना लेखक रहे हैं, जिन्होंने अपनी आरंभिक शिक्षा अँग्रेजी में पूरी नहीं की। इसके साथ सबसे महत्वपूर्ण और अविलम्ब ध्यान देने वाली बात यह है कि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर बढ़कर विकारल होते निजीकरण पर भी सफल नियंत्रण पाना होगा। तभी हम अपना जैसा कहे जा सकने वाला थोड़ा बहुत सुरक्षित रख पाने की स्थिति में होंगे। भारतीय भाषाओं को रोमन लिपि में बदलने का परिणाम यह होगा कि आने वाले पच्चीस वर्ष बाद हमारी हज़ारों सालों की भारतीय भाषाएँ, बच्चों के लिए केवल जादुई लिपियाँ होंगी। इसलिए, अगर हमें अपनी भाषाओं को बचाना है तो ऐसे सुनियोजित षडयंत्र के खिलाफ, हर उस आदमी को उन अखबारों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से पत्र लिखे जाने का निरन्तर अभियान चलाया जाना चाहिए और उन्हें कहना चाहिए कि वे भाषा के खिलाफ किये जा रहे इस विराट छल को अविलम्ब स्थगित करें अन्यथा वे उसे पढ़ना बंद कर देंगे। भाषा भी राष्ट्र की धरोहर है और उन्हें नष्ट करने की कोशिशें राष्ट्रद्रोह से कोई छोटा अपराध नहीं है। मुझे लगता है, यही आखिर वक्त है, जब उत्सवधर्मी मानसिकता के खिलाफ आंदोलन धर्मिता के लिए हम पर्याप्त अवसर और अवकाश बनायें।

---

प्रभु जोशी के इस लेख के अनेक अंश विश्वभर की अनेक वेबसाइट्स पर उपलब्ध हैं। यहां हम आमूल इसे छाप रहे हैं। इस पर पर्याप्त बहस है। हिन्दी के कई अधिकचरे अखबार अपनी सफलताओं के रूप में भाषा और विचार को तहस नहस कर रहे हैं। प्रभु जोशी ने कथाकार के रूप में अपना लेखन शुरू किया। एक पत्रकार के रूप में भी उन्होंने गहरी छाप छोड़ी और फिलहाल जल रंगों से कैनवास पर काम करने वाले एक बड़े चित्रकार के रूप में उनका स्थान बना।